INNOVATIVE RESEARCH THOUGHTS IN SOCIAL SCIENCES
Peer Review, Refereed, Biannual, Multiple Language (Hindi & English), Social Science Journal, Open Access Journal
ISSN: 3107-5096(ONLINE)
VOL. 2, ISSUE 2 (JUNE) 2026

सांस्कृतिक पहचान का संघर्ष और सतत विकास: झारखंड की आदिवासी महिलाओं का योगदान

अन्नु निशा
शोधकर्ता
राजनीति विज्ञान विभाग
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

डॉ. ऊषा देवी वर्मा,
सहायक प्रोफेसर,
राजनीति विज्ञान विभाग,
वी.एम.एल.जी. कॉलेज, गाजियाबाद

Citation:
Nisha, A., & Devi Verma, U. (2026). सांस्कृतिक पहचान का संघर्ष और सतत विकास: झारखंड की आदिवासी महिलाओं का योगदान. In Innovative Research Thoughts in Social Sciences (Vol. 2, Number 2, pp. 178–181).
DOI:. https://doi.org/10.5281/zenodo.20927891

सारांश

यह शोध पत्र झारखंड की आदिवासी महिलाओं के जीवन के उन जटिल अंतर्संबंधों का विश्लेषण करता है जहाँ उनकी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत और आधुनिक विकास के प्रतिमानों का टकराव होता है। झारखंड की अर्थव्यवस्था और सामाजिक ताना-बाना 'जल-जंगल-जमीन' पर टिका है, जिसकी वास्तविक प्रबंधक और संरक्षिका महिलाएँ हैं। शोध का मुख्य तर्क यह है कि आदिवासी महिलाओं की पहचान केवल परंपराओं का निर्वहन नहीं है, बल्कि यह एक "पारिस्थितिक प्रतिरोध" (Ecological Resistance) है जो वैश्विक जलवायु संकट का स्थानीय समाधान प्रस्तुत करता है। यह लेख विस्थापन के मनोवैज्ञानिक प्रभावों, आर्थिक सशक्तिकरण की विसंगतियों और सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) की प्राप्ति में उनकी अपरिहार्य भूमिका का विश्लेषण करता है।

***प्रमुख शब्द**: आदिवासी महिलाएँ ,पारिस्थितिकीय प्रतिरोध, सतत् विकास , बीज संप्रभुता, जल-जंगल-जमीन, आदिवासी पारिस्थितिकीय नारीवादी*

प्रस्तावना

झारखंड की जनजातीय संरचना में महिलाओं की भूमिका ऐतिहासिक रूप से स्वायत्त और आर्थिक रूप से उत्पादक रही है। यहाँ की जनजातियाँ जैसे संथाल, मुंडा, उरांव और हो, प्रकृति को एक निर्जीव संसाधन नहीं बल्कि एक "जीवंत पूर्वज" के रूप में देखती हैं। इस वैश्विक दृष्टि की केंद्र बिंदु आदिवासी महिला है। वर्तमान में, झारखंड की विकास प्रक्रिया खनन और औद्योगिकीकरण पर केंद्रित है, जो अनिवार्य रूप से बड़े पैमाने पर विस्थापन और पर्यावरणीय क्षरण की ओर ले जाती है।

प्रकृति और मानव के मध्य संबंधों पर आधारित आदिवासी जीवन-दर्शन आज वैश्विक पर्यावरणीय संकट के दौर में नए सिरे से प्रासंगिक हो उठा है। जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता के क्षरण, खाद्य असुरक्षा और प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन ने विकास की प्रचलित अवधारणाओं पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगाए हैं। ऐसे समय में झारखंड की आदिवासी महिलाएँ केवल एक सामाजिक समूह नहीं बल्कि एक वैकल्पिक विकास प्रतिमान (Alternative Development Paradigm) की वाहक के रूप में उभरती हैं।[1]

झारखंड भारत के उन राज्यों में शामिल है जहाँ जनजातीय आबादी का प्रतिशत अत्यधिक है। संथाल, मुंडा, उरांव, हो, खड़िया, बिरहोर तथा असुर जैसी जनजातियाँ यहाँ की सांस्कृतिक विविधता का आधार हैं। जनगणना 2011 के अनुसार राज्य की लगभग 26 प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जनजातियों से संबंधित है।[2] इन समुदायों की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना 'जल-जंगल-जमीन' के त्रिकोण पर आधारित है, जिसकी वास्तविक संरक्षक आदिवासी महिलाएँ हैं।

आधुनिक विकास मॉडल, विशेषकर खनन, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण, ने आदिवासी समाज के सामने अभूतपूर्व चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। विगत दशकों में कोयला, लौह अयस्क, बॉक्साइट तथा यूरेनियम खनन परियोजनाओं के कारण लाखों आदिवासी विस्थापित हुए हैं।[3] इस प्रक्रिया का सबसे गहरा प्रभाव महिलाओं पर पड़ा है क्योंकि उनके जीवन, आजीविका और सांस्कृतिक अस्तित्व का प्रत्यक्ष संबंध प्राकृतिक संसाधनों से है।

आदिवासी महिलाओं का संघर्ष केवल आर्थिक संसाधनों के संरक्षण का संघर्ष नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक अस्मिता, सामुदायिक स्वायत्तता और पारिस्थितिक न्याय के लिए भी संघर्ष है। इस संदर्भ में 'आदिवासी पारिस्थितिकीय नारीवादी (Tribal Eco-feminism) का दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो यह स्थापित करता है कि महिलाओं और प्रकृति दोनों पर होने वाला शोषण एक समान सत्ता संरचना से उत्पन्न होता है।[4]

यह शोध-पत्र झारखंड की आदिवासी महिलाओं के सांस्कृतिक संघर्ष, पारिस्थितिकीय योगदान और सतत विकास में उनकी भूमिका का विश्लेषण करता है। साथ ही यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि आदिवासी महिलाओं का पारंपरिक ज्ञान, वन प्रबंधन प्रणाली और सामुदायिक जीवन-दर्शन सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) की प्राप्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।[5]

यहाँ संघर्ष दोतरफा है: एक तरफ उन्हें अपनी उस सांस्कृतिक पहचान को बचाना है जो वनों से जुड़ी है, और दूसरी तरफ उन्हें आधुनिक विकास की उस धारा में शामिल होना है जो अक्सर उनकी

मूल अस्मिता को नकारती है। यह शोध स्थापित करता है कि सतत विकास (Sustainable Development) तब तक केवल एक कागजी अवधारणा बनी रहेगी जब तक कि इसमें आदिवासी महिलाओं के स्वदेशी ज्ञान (Indigenous Knowledge) को नीतिगत स्थान नहीं दिया जाता। शोध का तर्क है कि आदिवासी महिलाएँ 'जलवायु न्याय' (Climate Justice) की महत्वपूर्ण वाहक हैं क्योंकि उनका अस्तित्व सीधे तौर पर पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य पर निर्भर है (Xaxa, 2011; Shiva, 1988)।[6]

शोध पद्धति

यह शोध कार्य एक गुणात्मक और विश्लेषणात्मक (Qualitative and Analytical) पद्धति पर आधारित है। अध्ययन का मुख्य दृष्टिकोण 'आदिवासी पारिस्थितिकीय नारीवादी (Tribal Eco-feminism) है, जो यह स्थापित करता है कि महिलाओं की पहचान और उनका सामाजिक परिवेश अटूट रूप से जुड़े हुए हैं। शोध में झारखंड के विशिष्ट क्षेत्रों के साक्ष्यों का उपयोग किया गया है ताकि उन चुनौतियों का विश्लेषण किया जा सके जो आधुनिक विकास परियोजनाओं के कारण आदिवासी महिलाओं के सामने आ रही हैं। यह अध्ययन द्वितीयक डेटा, जैसे अकादमिक शोध और सरकारी रिपोर्टों का उपयोग करके पारिस्थितिक बुद्धिमत्ता, आर्थिक विरोधाभास और कानूनी सशक्तिकरण के अभाव जैसे विषयों की पड़ताल करता है।

सैद्धांतिक ढाँचा

इस अध्ययन का विश्लेषण मुख्यतः तीन प्रमुख सिद्धांतों पर आधारित है:

(1) आदिवासी नारीवादी पारिस्थितिकी (Tribal Eco-Feminism)

वंदना शिवा के अनुसार महिलाओं और प्रकृति के मध्य संबंध केवल जैविक नहीं बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी हैं। आदिवासी महिलाएँ संसाधनों की उपभोक्ता नहीं बल्कि उनकी संरक्षिका होती हैं।[7]

(2) राजनीतिक पारिस्थितिकी (Political Ecology)

राजनीतिक पारिस्थितिकी यह स्पष्ट करती है कि प्राकृतिक संसाधनों का नियंत्रण केवल पर्यावरणीय प्रश्न नहीं बल्कि शक्ति और राजनीति का प्रश्न भी है। झारखंड में खनन कंपनियों तथा राज्य के मध्य गठजोड़ के कारण आदिवासी महिलाओं के संसाधन अधिकार प्रभावित हुए हैं।[8]

(3) सतत आजीविका दृष्टिकोण (Sustainable Livelihood Approach)

यह सिद्धांत बताता है कि स्थानीय समुदायों की आजीविका, प्राकृतिक संसाधनों और सामाजिक पूंजी के संरक्षण के माध्यम से अधिक टिकाऊ बन सकती है। आदिवासी महिलाओं की कृषि और वन प्रबंधन प्रणाली इसका सशक्त उदाहरण है।[9]

वन प्रबंधन और पारिस्थितिकीय प्रतिरोध

झारखंड की आदिवासी महिलाएँ पारंपरिक वन प्रबंधन की सबसे महत्वपूर्ण इकाई हैं। वे वनों को केवल संसाधन नहीं बल्कि सामुदायिक विरासत के रूप में देखती हैं। उनके लिए जंगल भोजन, औषधि, ईंधन, जल स्रोत और सांस्कृतिक पहचान का आधार है।[10]

खूंटी, गुमला और सिमडेगा जिलों में महिलाओं द्वारा संचालित 'ठेंगा पल्लो' जैसी सामुदायिक

पहरेदारी व्यवस्थाएँ स्थानीय वन संरक्षण का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन व्यवस्थाओं में महिलाएँ स्वयं जंगलों की निगरानी करती हैं तथा अवैध कटाई को रोकती हैं।[11]

वनाधिकार अधिनियम, 2006 ने सामुदायिक वन अधिकारों को कानूनी मान्यता प्रदान की, किन्तु महिलाओं की वास्तविक भागीदारी अभी भी सीमित है। अधिकांश मामलों में भूमि और वन अधिकार पुरुषों के नाम दर्ज किए जाते हैं, जिससे महिलाएँ निर्णय प्रक्रिया से बाहर रह जाती हैं।[12]

वर्तमान जलवायु संकट के संदर्भ में आदिवासी महिलाओं का पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (Traditional Ecological Knowledge - TEK) अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे वर्षा के पैटर्न, औषधीय पौधों और जैव विविधता के संरक्षण संबंधी ज्ञान की संरक्षिका हैं। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) ने भी स्थानीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान को जलवायु परिवर्तन अनुकूलन की महत्वपूर्ण रणनीति माना है।[13]

सांस्कृतिक पहचान और पारिस्थितिकी

आदिवासी महिलाओं की सांस्कृतिक पहचान "स्थान-आधारित अस्मिता" (Place-based Identity) का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा, भाषाई मुहावरे और धार्मिक अनुष्ठान पूरी तरह से उनके भौगोलिक परिवेश यानी जंगल से प्रेरित होते हैं। आदिवासी समाज में महिला की पहचान उसके द्वारा किए जाने वाले 'अनुष्ठानिक श्रम' (Ritual Labor) से परिभाषित होती है। उदाहरण के लिए, 'सरहुल' (फूलों का त्योहार) या 'करम' पूजा के दौरान वनों और कृषि की पूजा केवल धार्मिक क्रिया नहीं है, बल्कि यह पारिस्थितिक चक्र को बनाए रखने का एक सामूहिक संकल्प है।

तर्क यह है कि जब विकास परियोजनाएँ इन भू-भागों को अधिग्रहित करती हैं, तो वे केवल भूमि का नहीं बल्कि एक 'जीवंत सभ्यता' का विनाश करती हैं। सांस्कृतिक क्षरण का सबसे गहरा प्रभाव संचार और भाषा पर पड़ता है। आदिवासी भाषाओं में वनों, वनस्पतियों और औषधियों के लिए जो सूक्ष्म वर्गीकरण उपलब्ध हैं, वे आधुनिक भाषाओं में अनुवादित नहीं किए जा सकते। जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यह मौखिक ज्ञान नहीं पहुँच पाता, तो वह समाज अपनी 'बौद्धिक संप्रभुता' खो देता है। (Guha, 2000)।[14]

आधुनिक समाज अक्सर आदिवासी महिलाओं के 'गोदना' (Tattoo) या पारंपरिक आभूषणों को पिछड़ापन मानता है, जबकि ये उनके कबीले की विशिष्टता और प्रकृति के प्रति उनके समर्पण के प्रतीक हैं। सांस्कृतिक पहचान का संघर्ष तब और गहरा हो जाता है जब बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव में आदिवासी समुदायों का 'हिंदूकरण' या 'ईसाईकरण' होता है, जिससे महिलाओं की वह स्वायत्तता कम हो जाती है जो उन्हें उनके मूल आदिवासी धर्म (सरना) में प्राप्त थी। अतः, पहचान का संघर्ष केवल प्रतीकात्मक नहीं है; यह उस स्वायत्तता को बचाने की लड़ाई है जो उन्हें जल-जंगल-जमीन पर मालिकाना हक और सम्मान देती है (Kelkar & Nathan, 1991; Birua, 2025)।[15]

सतत विकास में योगदान: वन प्रबंधन और संरक्षण

आदिवासी महिलाएँ "प्राकृतिक वनपाल" (Natural Foresters) के रूप में कार्य करती हैं। उनका वन प्रबंधन मॉडल 'उपयोगितावाद' पर नहीं बल्कि 'पारस्परिकता' पर आधारित है। झारखंड के विभिन्न जिलों, जैसे खूंटी और सिमडेगा में महिलाओं ने 'ठेंगा पल्लो' (लाठी लेकर पहरेदारी)

जैसे स्वैच्छिक समूहों का गठन किया है। इन समूहों का प्राथमिक उद्देश्य लकड़ी माफियाओं और अवैध कटाई को रोकना है।[16]

तर्क यह है कि आदिवासी महिलाओं का संरक्षण मॉडल आधुनिक वैज्ञानिक वानिकी से अधिक स्थायी है क्योंकि वे वनों को 'साझा संपत्ति' (Common Property) मानती हैं।[17] वे केवल सूखी टहनियों और पत्तों का संग्रह करती हैं, जिससे जंगलों का 'पुनर्जीवन' (रीजनरेशन) बाधित नहीं होता। इसके विपरीत, सरकारी वन विभाग अक्सर व्यावसायिक वृक्षारोपण (जैसे यूकेलिप्टस या टीक) पर जोर देता है, जो स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र और जल स्तर को नुकसान पहुँचाता है।

आदिवासी महिलाएँ वनों की जैव-विविधता की वास्तविक डेटाबेस हैं। उनके पास औषधीय पौधों की सैकड़ों प्रजातियों का ज्ञान है जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के लिए अत्यंत मूल्यवान है।[18] सतत विकास लक्ष्य (SDG) 15 'भूमि पर जीवन' की सुरक्षा के लिए यह ज्ञान अनिवार्य है। ठोस तर्क यह दिया जा सकता है कि यदि राज्य इन महिलाओं को वनाधिकार अधिनियम (FRA 2006) के तहत औपचारिक अधिकार और वित्तीय सहायता प्रदान करे, तो वनों का घनत्व और स्थानीय अर्थव्यवस्था दोनों में गुणात्मक सुधार होगा। उनकी भूमिका को केवल 'श्रमिक' के रूप में नहीं, बल्कि 'वन प्रबंधक' के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए ।

पारंपरिक कृषि, बीज संरक्षण और खाद्य सुरक्षा

आदिवासी महिलाओं का कृषि मॉडल "बीज संप्रभुता" (Seed Sovereignty) का जीवंत उदाहरण है। वे सदियों से उन स्वदेशी बीजों का संरक्षण कर रही हैं जो जलवायु परिवर्तन, सूखे और कीटों के प्रति अत्यधिक लचीले (Resilient) होते हैं।[19] झारखंड की आदिवासी महिलाएँ 'मिश्रित खेती' (Mixed Cropping) की विशेषज्ञ हैं, जहाँ वे एक ही खेत में मोटे अनाज (मिलेट्स), दालें और तिलहन उगाती हैं।

ठोस तर्क यह है कि आधुनिक 'हरित क्रांति' ने जहाँ रसायनों के माध्यम से मिट्टी की उर्वरता को नष्ट किया और किसानों को बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियों पर निर्भर बनाया, वहीं आदिवासी महिलाओं ने अपनी पारंपरिक विधियों से 'खाद्य संप्रभुता' को बनाए रखा है। वे मड़ुआ (Ragi), कोदो और गोंदली जैसे पोषक तत्वों से भरपूर अनाजों की रक्षक हैं। ये फसलें कम वर्षा वाले झारखंड के पहाड़ी क्षेत्रों के लिए वरदान हैं।

शोध बताते हैं कि जिन क्षेत्रों में आदिवासी महिलाएँ अपनी पारंपरिक कृषि पद्धतियों से जुड़ी हैं, वहाँ कुपोषण की दर अन्य क्षेत्रों की तुलना में काफी कम है। वे केवल खेतों से प्राप्त अनाज पर निर्भर नहीं होतीं, बल्कि जंगलों से प्राप्त 'अनकल्टीवेटेड फूड' (जंगली साग, मशरूम, कंद) के माध्यम से सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी को पूरा करती हैं।[20] सतत विकास लक्ष्य 2 (शून्य भुखमरी) की प्राप्ति के लिए आदिवासी महिलाओं का यह मॉडल सबसे प्रभावी और कम लागत वाला है। तर्क यह है कि सरकार को हाइब्रिड बीजों के वितरण के बजाय इन महिलाओं के 'सीड बैंक' को बढ़ावा देना चाहिए (FAO 2019; Shiva, 2020)।[21]

विस्थापन, पलायन और पहचान का संकट

विस्थापन को अक्सर 'विकास की अनिवार्य कीमत' के रूप में देखा जाता है, लेकिन आदिवासी महिलाओं के लिए यह 'सांस्कृतिक मृत्यु' के समान है। झारखंड में बड़े पैमाने पर खनन (कोयला, यूरेनियम, लौह अयस्क) और

बांध परियोजनाओं ने लाखों आदिवासियों को उनकी पैतृक भूमि से बेदखल किया है।

तर्क यह है कि विस्थापन कभी भी 'लिंग-तटस्थ' (Gender-neutral) नहीं होता। जब एक आदिवासी परिवार विस्थापित होता है, तो आर्थिक मुआवजा आमतौर पर परिवार के पुरुष मुखिया को दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप, महिला अपनी वह आर्थिक स्वतंत्रता खो देती है जो उसे जंगल से प्राप्त थी। जंगल में वह मालकिन थी, लेकिन विस्थापित होने के बाद वह एक 'अकुशल दिहाड़ी मजदूर' या शहरों में घरेलू नौकरानी बनने पर मजबूर हो जाती है। विस्थापन से केवल घर नहीं टूटता, बल्कि वह 'सामाजिक सुरक्षा जाल' (Social Safety Net) भी टूट जाता है जिसमें महिलाएँ एक-दूसरे की मदद करती थीं। पहचान का संकट तब और गहरा हो जाता है जब विस्थापित क्षेत्रों में रहने वाली 'बाहरी लोगों' (आउटसाइडर) के रूप में देखी जाती हैं। इसके कारण उनमें मानसिक तनाव, असुरक्षा और अपनी परंपराओं के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है। पलायन के दौरान युवतियों का मानव तस्करी (Human Trafficking) का शिकार होना झारखंड की एक कड़वी सच्चाई है। अतः, विस्थापन नीति में महिलाओं को केवल 'आश्रित' के रूप में नहीं, बल्कि स्वतंत्र 'हितधारक' के रूप में देखा जाना चाहिए (Sharma & Sinha, 2024; Areeparampil, 1996)।[22]

सांस्कृतिक पहचान का आयाम	आदिवासी महिलाओं की भूमिका	सतत विकास पर प्रभाव	संबंधित SDG
पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान	वन, जल एवं जैव विविधता का संरक्षण	पर्यावरणीय स्थिरता	SDG 13, SDG 15
पारंपरिक कृषि एवं बीज संरक्षण	स्थानीय बीजों का संरक्षण एवं जैविक खेती	खाद्य सुरक्षा एवं सतत कृषि	SDG 2
लोकभाषा एवं सांस्कृतिक परंपराएँ	सांस्कृतिक विरासत का पीढ़ीगत हस्तांतरण	सांस्कृतिक निरंतरता एवं सामाजिक एकता	SDG 11
हस्तशिल्प एवं लघु उद्यम	स्थानीय संसाधनों पर आधारित उत्पादन	आर्थिक सशक्तिकरण एवं रोजगार	SDG 8
सामुदायिक नेतृत्व एवं स्वयं सहायता समूह	निर्णय-निर्माण में भागीदारी	लैंगिक समानता एवं समावेशी विकास	SDG 5
प्राकृतिक संसाधनों का सामुदायिक प्रबंधन	सामूहिक संरक्षण एवं उपयोग	स्थानीय विकास एवं संसाधनों की स्थिरता	SDG 12, SDG 15

स्रोत: खुरशीद (2020) के अध्ययन के आधार पर लेखक द्वारा संकलित एवं रूपांतरित

यह तालिका दर्शाती है कि झारखंड की आदिवासी महिलाएँ केवल सांस्कृतिक परंपराओं की संरक्षक नहीं हैं, बल्कि वे सांस्कृतिक पहचान और सतत विकास के बीच एक सक्रिय सेतु (Bridge) के रूप में कार्य करती हैं। उनका पारंपरिक ज्ञान, सामुदायिक नेतृत्व और प्राकृतिक संसाधनों का

प्रबंधन संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) की प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

प्रमुख शोध निष्कर्ष

इस शोध के माध्यम से प्राप्त निष्कर्षों को चार प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

1. **पारिस्थितिक बुद्धिमत्ता:** आदिवासी महिलाएँ पारिस्थितिकी तंत्र के सूक्ष्म परिवर्तनों को समझने की क्षमता रखती हैं। उनका ज्ञान केवल अनुभवजन्य नहीं बल्कि वैज्ञानिक है, जिसे 'पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान' (TEK) कहा जाता है।
2. **आर्थिक विरोधाभास:** स्वयं सहायता समूहों (SHGs) के माध्यम से महिलाओं की पहुँच बैंकों तक तो हुई है, लेकिन इसने उन्हें 'बाजार-आश्रित' (Market-dependent) भी बना दिया है। वे अपनी 'स्व-उत्पादक' पहचान खोकर उपभोक्ता संस्कृति की ओर बढ़ रही हैं।
3. **कानूनी सशक्तिकरण का अभाव:** वनाधिकार अधिनियम (FRA 2006) के तहत दिए जाने वाले पट्टों में महिलाओं के स्वतंत्र अधिकारों की स्थिति अभी भी दयनीय है। प्रशासनिक जटिलताओं और पितृसत्तात्मक सोच के कारण वे अपने संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं पा सकी हैं।
4. **सांस्कृतिक लचीलापन (Resilience):** तमाम चुनौतियों और बाहरी दबावों के बावजूद, आदिवासी महिलाएँ अपनी लोक कलाओं, भाषाओं और सामूहिक उत्सवों के माध्यम से एक "साइलेंट रेजिस्टेंस" (मौन प्रतिरोध) जारी रखे हुए हैं। वे आधुनिकता को पूरी तरह नकार नहीं रही हैं, बल्कि उसे अपनी शर्तों पर अपनाना चाहती हैं (Singh et al., 2023; Ekka, 2010)।[23]

नीतिगत सुझाव

सतत विकास और सांस्कृतिक संरक्षण के बीच संतुलन बनाने के लिए निम्नलिखित ठोस कदम उठाए जाने चाहिए:

1. **लिंग-संवेदनशील भूमि अधिकार:** भूमि और वन पट्टों में महिलाओं को 'संयुक्त स्वामित्व' के बजाय 'प्राथमिक स्वामित्व' दिया जाए, विशेष रूप से महिला प्रधान परिवारों में।
2. **पारंपरिक ज्ञान का बौद्धिक संपदा अधिकार (IPR):** आदिवासी महिलाओं के औषधीय और कृषि ज्ञान का दस्तावेजीकरण किया जाए और यह सुनिश्चित किया जाए कि यदि कोई फार्मा कंपनी इस ज्ञान का उपयोग करती है, तो उसका लाभ सीधे उन महिला समुदायों को मिले।
3. **सांस्कृतिक शिक्षा का एकीकरण:** झारखंड के स्कूलों में प्राथमिक शिक्षा स्थानीय जनजातीय भाषाओं में दी जानी चाहिए और पाठ्यक्रम में 'पारंपरिक वन विज्ञान' को एक विषय के रूप में शामिल करना चाहिए।
4. **इको-इकोनॉमी का निर्माण:** महुआ, इमली, और लाख जैसे उत्पादों के प्रसंस्करण (Processing) के लिए गाँव स्तर पर छोटी इकाइयाँ लगाई जाएं, जिनका स्वामित्व पूरी तरह महिला सहकारी समितियों के पास हो। इससे पलायन रुकेगा और स्थानीय संसाधनों का मूल्य संवर्धन होगा।

5. **विकास परियोजनाओं में 'जेंडर इम्पैक्ट असेसमेंट':** किसी भी खनन या औद्योगिक परियोजना को मंजूरी देने से पहले यह अनिवार्य किया जाए कि उसका महिलाओं के जीवन और संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ेगा (World Bank Report, 2022; Ministry of Tribal Affairs, 2024)।[24]

निष्कर्ष

झारखंड की आदिवासी महिलाएँ केवल सामाजिक परिवर्तन की सहभागी नहीं बल्कि वैकल्पिक विकास प्रतिमान की निर्माता हैं। उनका सांस्कृतिक संघर्ष अतीत के संरक्षण का प्रयास मात्र नहीं है, बल्कि एक ऐसे भविष्य की कल्पना है जिसमें विकास, प्रकृति और मानव गरिमा के मध्य संतुलन स्थापित हो सके।

आदिवासी महिलाओं द्वारा संरक्षित पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान, बीज संप्रभुता, सामुदायिक वन प्रबंधन और स्थानीय खाद्य प्रणालियाँ वर्तमान वैश्विक पर्यावरणीय संकट के समाधान प्रस्तुत करती हैं। इसलिए उन्हें विकास प्रक्रिया के 'लाभार्थी' के रूप में नहीं बल्कि 'ज्ञान उत्पादक' (Knowledge Producers) और 'नीति साझेदार' (Policy Partners) के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।

यदि भारत को सतत विकास लक्ष्यों (SDGs), जलवायु न्याय (Climate Justice) तथा समावेशी विकास (Inclusive Development) के लक्ष्यों को प्राप्त करना है, तो झारखंड की आदिवासी महिलाओं के अनुभवों और ज्ञान को नीति निर्माण के केंद्र में स्थान देना अनिवार्य होगा। उनकी सांस्कृतिक पहचान की रक्षा केवल एक समुदाय के संरक्षण का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह मानवता और प्रकृति के सह-अस्तित्व की रक्षा का भी प्रश्न है। यदि हम वास्तव में 2030 के सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें 'आदिवासी पारिस्थितिकीय नारीवादी ' (Tribal Eco-feminism) को समझना होगा। उनकी पहचान को सुरक्षित रखना केवल एक समुदाय को बचाने का कार्य नहीं है, बल्कि यह पूरी मानवता को जलवायु विनाश से बचाने का एक मार्ग है। उनकी आवाज़ को नीति निर्माण के केंद्र में लाना ही 'सबका साथ, सबका विकास' की वास्तविक सार्थकता होगी।

संदर्भ सूची

Gadgil, M., & Guha, R. (1995). Ecology and equity: The use and abuse of nature in contemporary India. Routledge.pp.1-28.

Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. (2011). Census of India 2011: Primary census abstract for scheduled tribes. Government of India.

Fernandes, W. (2008). India's forced displacement policy and practice: Is compensation up to its functions? Indian Social Institute.pp.89-112.

Shiva, V. (1988). Staying alive: Women, ecology and development. Zed Books.pp.23-45.

United Nations. (2015). Transforming our world: The 2030 agenda for sustainable development. United Nations.pp.14-29.

Xaxa, V. (2011). Tribes and Social Exclusion. Social Inclusion Cell, Department of Sociology, Delhi School of Economics, University of Delhi.

Shiva, Vandana (1988). Staying Alive: Women, Ecology and Development.

Robbins, Paul (2020). Political Ecology: A Critical Introduction.(3rd ed.).Wiley-Blackwell.

Chambers, R., & Conway, G. (1992). Sustainable Rural Livelihoods: Practical Concepts for the 21st Century. Institute of Development Studies.pp.6-9.

Gadgil, M., & Guha, R. (1995). Ecology and Equity: The Use and Abuse of Nature in Contemporary India. Routledge.pp.102-118.

Singh, N. M. (2018). Becoming a Community Forest: Environmental Governance and Forest Rights in India. Cambridge University Press.

Government of India. (2007). The Scheduled Tribes and Other Traditional Forest Dwellers (Recognition of Forest Rights) Act, 2006. Ministry of Tribal Affairs. & Agarwal, B. (2001). Participatory exclusions, community forestry and gender. World Development, 29(10), 1623-1648.

United Nations Environment Programme (UNEP). (2022). Making Peace with Nature: A Scientific Blueprint to Tackle the Climate, Biodiversity and Pollution Emergencies; Berkes, F. (2018). Sacred Ecology (4th ed.). Routledge.

Guha, R. (2000). The Unquiet Woods: Ecological Change and Peasant Resistance in the Himalaya (Expanded ed.). University of California Press.

Kelkar, G., & Nathan, D. (1991). Gender and Tribe: Women, Land and Forests in Jharkhand. Kali for Women.

Agarwal, B. (2009). Gender and forest conservation: The impact of women's participation in community forest governance. Ecological Economics, 6811), 2785-2799.

Gadgil, M., & Guha, R. (1995). Ecology and Equity: The Use and Abuse of Nature in Contemporary India. Routledge.

Berkes, F. (2018). Sacred Ecology (4th ed.). Routledge.

Shiva, V. (2016). Who Really Feeds the World? The Failures of Agribusiness and the Promise of Agroecology. North Atlantic Books.

Ghosh-Jerath, S., Kapoor, R., Singh, A., Downs, S., & Fanzo, J. (2016). Leveraging traditional foods for nutrition security in rural India. Food Security, 8(1), 1-17.

Food and Agriculture Organization. (2019). The State of the World's Biodiversity for Food and Agriculture. FAO. & Shiva, V. (2016). Who Really Feeds the World? The Failures of Agribusiness and the Promise of Agroecology. North Atlantic Books.

Areeparampil, M. (1996). Tribals of Jharkhand: Victims of Development. New Delhi: Indian Social Institute.

Ekka, A. (2010). Status of Adivasi Women in Jharkhand. Ranchi: Pyara Kerketta Foundation. & Singh, A., et al. (2023). Bio-indicators and Indigenous Knowledge. BMC Nutrition.

World Bank. (2022). Inclusion and Resilience: The Way Forward for Social Sustainability in Development Projects. Washington, DC: World Bank. & Ministry of Tribal Affairs. (2024). Annual Report 2023-24. Government of India, New Delhi.